वीर शासन की उदारता

●

श्री जयभगवान जैन एडवोकेट, पानीपत

●

प्रकाशक :

अ० भा० दि० जैन परिषद्

पब्लिशिंग हाउस, दरीबा कलां, दिल्ली।

वीर शासन की उदारता

वीर आगमन के समय भारत की दशा

भारत के ढाई हजार वर्ष पूर्व के इतिहास अवलोकन से विदित है कि तत्कालीन भारतीय जीवन अन्धविश्वासों, अहितकर रूढ़ियों और भारयुक्त जटिल क्रियाकांड से शुष्क और निर्जीव हो चुका था। प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति, विमोह और स्वार्थ के हाथों पड़कर जर्जरित और छिन्न-भिन्न दशा को पहुँच चुकी थी। धर्म-मार्ग की सरल सुतरंग धारा जो यथास्थिति बल खाती हुई, देव और मनुष्य, नाग और असुर, आर्य और म्लेच्छ, पशु और पक्षी सब ही में आनन्द और स्वास्थ्य का संचार करती हुई स्वतन्त्र गति से अनन्त की ओर प्रस्थान करती थी---उसकी स्वतन्त्रता पर जातीय संकीर्णता ने कुल जाति, गोत्र, वर्ण आश्रित भेदभावों के बन्धन लगा कर उसे बन्दी बना दिया था। इस रुद्ध हुई धारा में विमोह, वैमनस्य और सन्ताप की दुर्गन्ध पैदा हो गई थी।

भारत की इस संकीर्ण परिस्थिति में जीवन शक्ति को मिथ्या विश्वासों, रूढ़ियों और क्रियाकणड से मुक्त कराने और धर्मपथ को जातीय संकीर्णता के गर्त से निकाल पुनः विश्वमार्ग बनाने के लिए जिन दो महान् आत्माओं का जन्म हुआ उनमें एक भगवान् महावीर थे।

भगवान् वीर ने आध्यात्मिक संस्कृति पर से शताब्दियों के संचित विकृति पटलों को उघाड़कर जिस जीवतत्त्व और जीवनमार्ग का पुनरुद्धार किया, उससे पीड़ित, संत्रस्त और आशाहत हृदयों में नवीन आशा और दिव्य ज्योति का प्रभात हो आया। परन्तु उससे स्थितिपालक याज्ञिक और पुरोहित वर्ग को, जो जीवन कल्याण और लोकहित की बलि देकर धर्मतत्त्व को अपनी प्रतिष्ठा और आजीविका का साधन बना बैठे थे, बड़ा आघात

पहुंचा। इस कारण स्थिति पालक दल इस महान् आत्मा के विरोध पर उतारू हो गया और उसको पाखंडी मलिन और असुर कहकर उसे अनेक प्रकार के उपसर्ग पहुँचाने लगा।

परन्तु वीर प्रभु ने जिस मार्ग पर क़दम बढ़ाया था, उसे तनिक भी पीछे न हटाया। अपनी गाढ़ तपस्या द्वारा उसने जिस परम मंगल मोक्ष-मार्ग का साक्षात् किया था, उसका निर्भीकतया देश-विदेशों में विहार कर प्राणि-मात्र के लिए उपदेश दिया। जहाँ उनका संदेश विश्वकल्याणी था— वहाँ उनकी संदेशवाहिनी भाषा भी विश्वव्यापिनी थी। वह इतनी सहल और सुबोध थी कि शिक्षित अशिक्षित सब ही पात्र उसको समझ कर लाभ उठाते थे।

वे जहाँ जाते, उनका बड़ी भक्ति-भाव से स्वागत होता। उनके दर्शन करने और उपदेश सुनने के लिए जन-सागर उमड़ पड़ता। राज-घराने से लेकर चाण्डाल पर्यन्त सब ही वर्ण जाति और व्यवसायों के नर-नारी, उच्च-नीच के भेद-भाव रहित उनके चरणों में बैठ अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाते और उनके वचनामृत से अपनी जिज्ञासा शान्त करते। इतना ही नहीं बल्कि वन-वासी पशु-पक्षी तक उनका संपर्क पा अपनी नैसर्गिक क्रूरता और वैर-भाव त्याग सद्वृत्ति हो जाते थे। इसी कारण उन की परिषत् समवशरण के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ प्राणिमात्र को समान रूप से धर्म की शरण मिलती थी।

उनकी शिक्षा ही सर्वव्यापी नहीं थी, उनकी दीक्षा भी सर्वव्यापी थी। मानवसमाज-व्यवहृत समस्त भेद-भावों को छोड़कर वे सभी प्रकार के मनुष्यों को अपने श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका चतुःसंघ में दीक्षित करते थे। इसी बात को दृष्टि में रखकर बुद्ध भगवान् मज्झिम निकाय में वीर शासन के संबन्ध में कहते हैं—"ऐसा ही होने से तो जो लोक में रुद्र, रक्तरंजित हाथ वाले, क्रूरकर्मा और मनुष्यों में नीच जाति वाले हैं वे निगंठों (जैन साधुओं) में साधु बनते हैं।"

जैनाचार्य सोमसेन इसी बात को इस तरह प्रकट करते हैं:—

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः ।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बांधवोपमाः ॥ (धर्मरसिक)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब ही भ्रातृसम जैनधर्म में दीक्षित होने के योग्य हैं ।

महावीर के दो मूल आध्यात्मिक सिद्धान्त

१—धर्म आत्मा के निज स्वरूप का नाम है। उनका सिद्धान्त था कि आत्म-स्वभाव ही धर्म है। इस स्वभाव की अपेक्षा सभी प्राणियों की आत्मा समान है। सभी वस्तुतः दर्शन-ज्ञानस्वरूप हैं, सच्चिदानन्द हैं, अनन्त बलधारी हैं, अजर अमर हैं और परम मंगल हैं। भेद केवल स्वभाव की अभि-व्यक्ति में है। किसी में आत्मधर्म अधिक अभिव्यक्त है, किसी में कम; परन्तु पूर्ण स्वरूप अभिव्यक्त करने की शक्ति प्रत्येक आत्मा में स्वतः सिद्ध है। आत्मा का निज अधिकार है, उसकी अपनी अन्तरंग संपत्ति है। यह संपत्ति द्रव्य से खरीदी और बेची नहीं जा सकती। यह शक्ति शरीर के श्याम और गौर वर्ण से श्याम और गौर वर्ण वाली नहीं होती। यह शूद्र के घर जन्म पाने से शूद्र और ब्राह्मण घराने में जन्म पाने से ब्राह्मण नहीं हो पाती। यह सब देशवासियों और सब ही जातिवालों में विद्यमान हैं। धनवानों में भी है और निर्धनों में भी है, पुण्यात्माओं में भी है और पापिष्ठ में भी है, मनुष्यों में भी है और तिर्यंचों में भी है, स्वर्ग में भी है और नरक में भी है।

इस तरह यह आध्यात्मिक शक्ति—जो आत्मा का उत्कर्ष करा पूर्णता का लाभ करती है—वर्ण गोत्र जाति आदि उपाधियों से सर्वथा निरपेक्ष है। जो आत्मधर्म में रमता है वही धर्मात्मा है, शुद्ध है और महान् है।

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः।
संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥८३॥

कुन्द कुन्द—भावप्राभृत (संस्कृत छाया)

अर्थात् धर्म का आचरण करने से धर्मात्मा होता है। बाह्य वर्ण जाति आदि की उपाधियों और तिलक यज्ञोपवीत आदि चिह्नों को धारण करने मात्र से धर्मात्मा नहीं होता।

२—आत्मा का उत्थान पतन जातीयता से निरपेक्ष है। आत्मा स्वयं

साध्य है और स्वयं साधन मार्ग है। आत्मा का उद्धार और पतन स्वयं उस के भावो की निर्मलता और मलिनता पर निर्भर है। नीचे से नीच प्राणी भी अपनी शुद्धवृत्ति द्वारा अपने को उच्च और महान् बना सकता है, और तो क्या शुद्ध बुद्ध निरंजन ब्रह्म हो सकता है। और ऊँचे से ऊँचा व्यक्ति भी अपनी अशुभ वृत्ति द्वारा अपने को रसातल को पहुँचा सकता है। इस तरह प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य का विधाता है। इसी तत्त्व को जैन आचार्यों ने निम्न शब्दो में प्रकट किया है—

उत्तमधर्मेण युतः भवति तिरश्चोपि उत्तमः देवः ।
चाण्डालोपि सुरेन्द्रः उत्तमधर्मेण संभवति ॥४३०॥
(कार्तिकेयानुप्रेक्षा (संस्कृत छाया)

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
(रविषेण-पद्मचरित ११-२०३॥)

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्धयास्तु तादृशः ।
जात्या हीनोपि कालादि लब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥२-२२॥
(पं० आशाधर—सागार धर्मामृत)

शीलवन्तो गताः स्वर्गे नीचजाति भवा अपि ।
कुलीना नरकं प्राप्ताः शीलसंयमनाशिनः ॥
(अमितगति—धर्मपरीक्षा)

इस सिद्धात के आधार पर ही वीर प्रभु ने प्रचलित देवतावाद और तत्सबधी याज्ञिक क्रिया-काड की निःसारता बतलाई थी । इसी के आधार पर दीन हीन पददलित और पाप पक में फंसे हुए व्यसनी आत्माओं को उनके उद्धार की आशा दिलाई थी । इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रभु अपने उपदेश के समय अनेक प्रसिद्ध महानुभावों के पूर्व भवों का इतिहास प्रदर्शित किया करते थे; ताकि अपने को शूद्रात्मा मानने वाले शूद्र मान्यता को त्याग कर महान् बनने का पुरुषार्थ करने लगें। स्वयं अपने पूर्व भावों को बतलाते हुए कहते थे कि वे सदा क्षत्रवंशीय राजकुलोत्पन्न अर्हत न थे। वे एक समय क्रूर पशुघातक सिह थे। दूसरे समय आचार-

विचार विहीन एक मांसभोजी भील का जीवन रखते थे। इसी तरह उन्हें अनेक शूद्रतम योनियों में से गुजरना पड़ा। इतने अधम होते हुए भी शनैः शनैः धर्माचरण के प्रभाव से आज त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर देव बने हुए हैं। वे कहा करते थे कि जिस तरह मैं क्रमशः उन्नति करता हुआ जीवन की पराकाष्ठा को पहुँचा हूँ, अधम से अधम प्राणी भी वैसे ही उन्नति कर सकता है।

जो नर अपनी विद्या, तप, बल, राजशासन, कुल और जाति के मान म चूर थे, अपने को उच्च और अन्य प्राणियों को तुच्छ समझते थे—उन्हें प्राचीन चक्रवर्ती, नारायण, रुद्र आदि महान् शक्तिशाली तेजस्वी व्यक्तियों का भविष्य जीवन बतलाते हुए कहते थे कि जब ऐसे २ महान् व्यक्ति भी अपनी कषाययुक्त प्ररिणति मे नरक में जा सकते है, तो सामान्य पुरुषों का तो कहना ही क्या है? अतः किसी को भी अपनी जाति आदि का मान नहीं करना चाहिये। जीवन का उत्थान-पतन जातीयता पर निर्भर नहीं है। लोकप्रतिष्ठित घरानों में नीचात्माओं की उत्पत्ति और नीच घरानों में उच्च आत्माओं की उत्पत्ति के सैंकड़ों उदाहरण संसार में विख्यात हैं। द्वैपायन व्यास जो अखिल हिन्दू संसार के तिलक स्वरूप महान् आत्मा है वे घृणित व्यभिचार की उपज थे। और मरीचि ऋषि—जिस ने जैन अनुश्रुति के अनुसार अनेक पाखडो का प्रसार किया—स्वयं आदि ब्रह्मा के पौत्र थे।

यही दो आध्यात्मिक सिद्धात समस्त जैन पौराणिक साहित्य के प्राण हैं। भारतीय संस्कृति के पौराणिक युग में जब आधुनिक हिन्दू धर्म की सृष्टि प्रलयवाद, ब्रह्मा विष्णु महेश त्रिमूर्त्ति अवतारवाद, भक्तिवाद और पितृ-तर्पणवाद आदि मान्यताओं ने जोर पकडा और इन वादो के प्रचार के लिए गुप्त काल मे ब्राह्मण विद्वानों द्वारा पुराण ग्रन्थों की रचना शुरू हुई तो जैनाचार्यों ने भी उक्त वादों के निराकरणार्थ और इनके स्थान में लोक के नित्यानित्यवाद, कालचक्र वाद, तीर्थंकर—अवतारवाद, भक्ति-ज्ञानवाद और कर्मफलवाद का प्रचार करने के लिये पौराणिक साहित्य का निर्माण किया।

श्रमण-संस्कृति में वर्णव्यवस्था का स्थान

भारत के आदि धर्म-प्रवर्तक 'कश्यपगोत्री' इक्ष्वाकुवंशी 'विवस्वान्' मनु ऋषभ देव ने व्यक्तिगत गुण कर्म के आधार पर जिस क्षत्र, वैश्य, शूद्र त्रिवर्ण व्यवस्था का विधान किया था वह केवल सामाजिक संघटन, आर्थिक व्यवस्था और राष्ट्र एकता के लिए ही किया गया था । वह मानव समाज में सामूहिक सहयोग और लौकिक उन्नति के लिए ही बनाया गया था; परन्तु वह पारलौकिक उन्नति के लिए—जो व्यक्तिगत आचार विचार पर निर्भर है—तनिक भी लागू न था ।

कालदोष से सर्वसाधारण में ज्यों २ धर्मतत्त्व ने भक्ति मार्ग का आनुष्ठानिक रूप धारण किया और महान् पुरुषों के प्रति भक्ति भावना, पूजा, अर्चना, प्रार्थना के क्रियाकांड में प्रवृत्ति हुई, त्यों २ इस धर्म मार्ग की जटिलता बढ़ने लगी और "जरूरत ईजाद की माँ है" इस लोकोक्ति के अनुसार उसके योग्य विधिविधान करने, उसके संरक्षण और निरीक्षण के लिए मानव-समाज में एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण होना शुरू हुआ, जो बाद में ब्राह्मण वर्ण कहलाया । धर्म मार्ग के विधाता बन जाने के कारण उनका लोक-प्रतिष्ठित होना स्वाभाविक ही था । लोभवश होकर इस वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा को अपनी उदरपूर्त्ति का साधन बना लिया । अपनी इस प्रतिष्ठा और आजीविकासाधन को सुरक्षित करने के लिए उन्होंने जन्माश्रित जिन जातीय बन्धनों का आविष्कार किया उसके फलस्वरूप भारत की वह वर्ण-व्यवस्था हुई जिसका महावीर और बुद्ध दोनों ने बहुत मार्मिक शब्दों में विरोध किया, और उनके पीछे होने वाले सभी नेता विरोध करते चले आए ।

जन्म-आश्रित वर्णव्यवस्था ब्राह्मणिक संस्कृति की सृष्टि है

ये ब्राह्मण जन आदि प्रजापति स्वयम्भू मनुकृत वर्णव्यवस्था संबंधी श्रुति[1] के भावार्थ को न समझ कर स्वार्थवश उसका यह अर्थ करने लगे कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए हैं, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य उदर से और

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। ऋ० १०-९०-१२

शूद्र पाद से । अतः वर्णव्यवस्था जन्माश्रित है। और सब वर्णों में ब्राह्मण महान् हैं, वे देवतुल्य संमाननीय और आदरणीय हैं। विश्व में दो प्रकार के देव हैं, एक अग्नि, वायु, इन्द्र, सूर्य आदि दिव्य-देव और दूसरे श्रुति के जानकार ब्राह्मण मनुष्य-देव। प्रथम प्रकार के देव यज्ञों में दी हुई आहुतियों से संतुष्ट होते हैं और मनुष्य-देव दक्षिणा से।[१] अतः मनुष्यों को उचित है कि वे ब्राह्मणों का देवतुल्य सम्मान करें और उन्हें अनेक प्रकार के भोग्य पदार्थ देकर संतुष्ट करें[२]। जो राजा ब्राह्मणों की सहायता करता है देव भी उसके सहायक होते हैं ।[३]

पठन-पाठन और यज्ञ-अनुष्ठान करने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही प्राप्त है । शूद्र वेद-अध्ययन व वेद-श्रवण के भी अधिकारी नहीं हैं।[४] शूद्र और स्त्रियां अनृत व पाप योनियां हैं।[५] शूद्र द्विजवर्ग की सेवा करने के लिए ही पैदा हुए हैं[६]। विद्या ग्रहण करने के लिए उपनयन आदि संस्कारों का होना जरूरी है परन्तु शूद्रों के लिए उपनयन आदि संस्कार वर्ज्य हैं इसलिए शूद्र विद्याग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं।[७] ब्राह्मणों को उचित है कि शूद्रों के पास बैठकर वेद-अध्ययन न करें।[८] यदि किसी कारण

---

१. (अ) द्वया वै देवा देवाः । अहैव देवा अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य देवाः . . . .
. . . . . आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणांछुश्रुवुषोऽनूचानान् । शतपथ ब्राह्मण २-२-२-६
(आ) अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः । षड्विंशब्राह्मण १-१

२. महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ३३, ३४, ३५, ३६

३. ऋग्वेद ४-५०-८-९

४. श्रवणाध्ययनार्थं प्रतिषेधात् स्मृतेश्च । ब्रह्मसूत्र १-३-३८

५. अनृतं स्त्री शूद्रः श्वा कृष्णः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत ।
शतपथ १४. १. १. ३१

६. ताण्ड्य ब्राह्मण ६. १. ६-१२; तैत्तिरीय संहिता ७. १. ९. ४-६; बृहदारण्यक उपनिषत् १. ७. १३; मनुस्मृति १०. १२१, १२२

७. संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च । ब्रह्मसूत्र १. ३. ३६

८. नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसंनिधौ । मनुः ४. ९९

वश शूद्र वेद को सुन ले। तो उसके कानों में सीसा अथवा लाख भरवा दिया जाए, वेद का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट दी जाए, और वेद याद कर लेने पर उसका शरीर ही भेदन कर दिया जए।[१] उच्च के पास बैठने की इच्छा करने वाले नीच को उसकी पीठ पर दाग लगा कर राज्य से निकाल दिया जाए।[२] शूद्र को कभी बुद्धि न दे, उसको यज्ञ का प्रसाद न दे और न ही उसे धर्म तथा व्रत का उपदेश दिया जाए।[३]

शूद्र यज्ञ करने का भी अधिकारी नही है, अतः वह यजमान नहीं बन सकता ।[४] जो ब्राह्मण शूद्रो को पढ़ाने वाला हो, उसे श्राद्ध में निमन्त्रित न किया जाए ।[५] जो पुरोहित शूद्रो को पाठ पढाने वाला या हवन कराने वाला सिद्ध हो, उसे पुरोहित पद से च्युत कर दिया जाए।[६] राजा को उचित है कि वह अपने राज्य में शूद्रों और नास्तिकों की वृद्धि न होने दे। इनकी वृद्धि से राज्य का नाश हो जाता है।[७] इत्यादि।

इस तरह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जन्म-आश्रित वर्ण-व्यवस्था का आधार पारमार्थिक धर्म नही है और न ही लोककल्याण की भावना है। बल्कि जातीय मद, मोह और घृणा है।

---

१. अथहास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। गौतम धर्मसूत्र १९५.

२. मनु: ८. २८१

३. न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
नचास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्। वासिष्ठ धर्मसूत्र १४

४. (अ) वज्रसूचि पृष्ठ १
(आ) तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः। तैत्तिरीय संहिता ७. १. १.६

५. महाभारत अनुशासन पर्व ९०. ९. १०

६. (अ) कौटिल्य अर्थशास्त्र १. १०
(आ) महाभारत वनपर्व अध्याय २००, १-१०

७. मनुस्मृति ८. २२

इस जातीय घृणा का सूत्रपात त्रेतायुग के आरंभ में हुआ है। जब वैदिक आर्यजन इलावृत्त देश से भारत में आए,[1] उस समय समस्त सप्तसिन्धु देश (दक्षिणी अफगानिस्तान और पंजाब) में दस्युजन बसे हुए थे। ये यद्यपि आर्यजन की अपेक्षा सभ्यता में बढ़े-चढ़े थे, सामाजिक व्यवस्था से सुसंगठित थे, राष्ट्रीय सत्ता रखते थे, कृषि, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार के व्यवसाय करते थे, बड़े २ भवनों वाले पुर, नगर और दुर्गों में बसे हुए थे, अनेक प्रकार की शिल्पकलाओं और विद्याओं में सिद्धहस्त थे, परन्तु ये आर्यजन से भिन्न आकृति, भिन्न वर्ण, भिन्न भाषा और भिन्न संस्कृति वाले थे। ये वर्ण में कृष्ण और आर्यजन भूरे गौरवर्ण वाले थे । इनकी नाकें छोटी और आर्यजन की सुती हुई लम्बी नाकें थीं। ये त्यागी तपस्वी श्रमणों के उपासक थे—उनके अध्यात्मवाद और कर्मवाद को मानने वाले थे। उनके ज्ञान ध्यान और निर्वाण के नियमों (विषयों) को, उनके चैत्य और वृक्षों को पजने वाले थे। ये आगन्तुक आर्यजन के देवतावाद, संस्कारविधान और याज्ञिक अनुष्ठानों में श्रद्धा न रखते थे। इस वर्ण और सांस्कृतिक भेद के कारण आर्यजन का दस्युओं के प्रति घृणा करना स्वाभाविक ही था। दस्युजन जहाँ सभ्यता में बहुत बढ़े-चढ़े थे, वहाँ संख्या में भी वे आर्यजन से बहुत अधिक थे। भारत में बसने के बाद ज्यों २ आर्यजन का संपर्क दस्युजन के साथ बढ़ा, त्यों-त्यों उनमें पारस्परिक प्रणय संबन्ध भी होने लगे और सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी होने लगा। ऐसी स्थिति में आर्यजन को अपने विशुद्ध गौरवर्ण तथा विशुद्ध आधिदैविक संस्कृति के विलोप का भय पैदा होने लगा । इस भय के कारण अपनी पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए ब्राह्मण विद्वानों ने विवाहसंबंधी अनुलोम तथा प्रतिलोम के नियम बनायें। देवों की अर्चना (ऋक्) स्तुति (साम) और पूजा (यजु) संबंधी त्रिविद्या के पठन-पाठन और याज्ञिक अनुष्ठान के अधिकार केवल मात्र ब्राह्मणों में सीमित किए गए। इस प्रकार पुरानी गुण स्वभावविशिष्ट व्यवसाय-व्यवस्था को जन्म-आश्रित वर्ण-व्यवस्था का रूप दिया गया।

१. जयचन्द्र विद्यालंकार-भारतीय इतिहास की रूपरेखा। भाग १ पृष्ठ ३०२

परन्तु राज्यसत्ता के अधिकारी न होने के कारण वे अपने मनोरथ में अधिक सफल न हो सके। भारतीय जन ने अनुलोम व प्रतिलोम की मर्यादाओं को कभी मान्य करार नहीं दिया। उनमें गन्धर्व, राक्षस और असुर विवाह की रीतियाँ बराबर जारी रहीं, जिस से आर्य और दस्युरक्त मिल कर अनेक संकर जातियों का जन्म हुआ और अनेक महाशाल ब्राह्मण आधिदैविक संस्कृति को छोड़ श्रमण-संस्कृति में दीक्षित होते रहे।

अपने इस ह्रास से स्वभावतः वैदिक ब्राह्मण सदा चिन्तित रहते चले आए। वे निरन्तर इस मर्यादारहित सामाजिक एवं सांस्कृतिक गति के रोध के लिए विवाह एवं व्यवसायसंबंधी बंधनों के साथ-साथ आर्य खंड से बाहर मगध, विदेह, अंग, बंग, कलिंग, कोशल, सुराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, आरट्ट (पंजाब), मद्र, खस, आंध्र, कर्णाटक आदि व्रात्य देशों की यात्रा पर भी अनेक प्रतिबंध लगाते रहे।[1] परन्तु सार्वभौम सत्ता न रखने के कारण उनके वे नियम सर्वसाधारण जनता के लिए मान्य न हो सके। कौरव वंश की राज्यसत्ता समाप्ति पर जब राज्यशासन की बागडोर पुनः भारत के मूलवासी नागवंशों के हाथ में आई तो श्रमणसंस्कृति ही भारत की मूल संस्कृति बन गई। यह दशा मौर्यकाल तक बराबर बनी रही। ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में (१८५ ई. पूर्व) जब पुष्पमित्र ने मौर्य वंश के अन्तिम नरेश बृहद्रथ को मारकर मगध में पहली बार शुंगनाम के ब्राह्मण वंश की स्थापना की और ब्राह्मणवर्ण को अपने मनचाहे विधान को राज्य-विधान बनाने की सुविधा मिली, तो उन्होंने पुराने चले आए राज्य-विधान को नई दिशा देने के लिए अर्थशास्त्र तथा स्मृति नामक नवीन साहित्य का निर्माण किया। उसे सर्वसाधारण में प्रामाणिक बनाने के लिए श्रद्धेय महापुरुषों के नाम उनके साथ जोड़ दिए। इस युग की सर्वप्रथम उपज बृहस्पति-अर्थशास्त्र, कौटिल्य अर्थशास्त्र और मनुस्मृति हैं। इस युग में ही आधुनिक वर्णव्यवस्था के रूप को सुदृढ बनाया गया। इस युग से लेकर

---

१. **(अ) बौधायन धर्मसूत्र १. १. ३२-३३**
(आ) याज्ञवल्क्य स्मृति ३. २९२ पर लिखी १२वीं ईस्वी सदी की विज्ञानेश्वरकृत टीका

गुप्त काल के अन्त तक (१८५. ई. पूर्व से ७०० ई. तक) जो कि ब्राह्मण धर्म का स्वर्णयुग कहलाता है, जितना भी ब्राह्मणिक साहित्य रचा गया उसमें समाज-रचना संबंधी निम्न चार बातों पर विशेष ज़ोर दिया गया है।

१—अपने वर्ण की स्त्री से ही विवाह करना श्रेयस्कर है। अपने से उच्च वा नीच जाति में काम प्रवृत्ति करना वर्जित है।[1] यदि कोई ब्राह्मण अपने वर्ण को छोड़कर अन्य वर्ग की स्त्री का पाणिग्रहण करे, तो वह प्राण-दंड दिए जाने योग्य है।[2] ब्राह्मणों की स्त्रियां ब्राह्मणों के अतिरिक्त अगम्य हैं। उनके साथ अन्य जन विवाह नहीं कर सकते।[3] वर्ण-संकर निन्दनीय है क्योंकि वर्ण संकर से अधर्म की प्रवृत्ति होती है।[4]

२—कोई जातिवाला अपने आनुवंशिक व्यवसाय को छोड़कर दूसरा व्यवसाय न करे। अपने जातीय व्यवसायों को—चाहे वह सदोष भी हो—करते रहना ही कल्याणकारी है।[5] शूद्रजाति वालों के लिए द्विज लोगों की सेवा करना ही उनकी स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग है।[6]

३—ब्राह्मण दोषी अथवा दुष्ट होते हुए भी हनन करने योग्य नहीं है, वह अदण्ड्य है। उसको किसी भी अपराध के कारण कष्ट न दिया जाए।[7] ब्राह्मण का धन किसी भी अपराध या कर के कारण हरण न किया जाए।[8] संपूर्ण पापों में भी स्थित ब्राह्मण को न मारा जाए, उसे अधिक से अधिक बिना मारे-पीटे संपूर्ण धन के साथ राज्य से निकाल दिया जाए। ब्राह्मण के

---

१. वात्स्यायनकामसूत्र १. ५. १, २
२. मनुस्मृति ८. ३५९
३. वात्स्यायन कामसूत्र १. ५. २९
४. भगवद्गीता १. ४१, ४२
५. भगवद्गीता १८. ४७, ४८
६. मनुस्मृति १०, १२२
७. (अ) ब्राह्मणं न हन्याद् दोषदुष्टमपि। बृहस्पति अर्थशास्त्र ३.३८
(आ) कौटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण ४ प्रकरण ८३
८. कौटिल्य अर्थशास्त्र २.१९

वध से बड़ा और कोई पाप नहीं है ।[1]

४—राजा को उचित है कि वह ब्राह्मणों की सेवा पिता के समान करे । उनके लिए अनेक भोग्य पदार्थों का अनुदान करे, और प्रतिदिन प्रणाम द्वारा उनका सम्मान करे; क्योंकि कुपित हुआ ब्राह्मण मारण, उच्चाटन आदि विविध उपायों से अथवा अपने तपस्या-तेज से सब कुछ भस्म कर देता है। ब्राह्मणो के गुणों की कोई सीमा नहीं है। वे देव को अदेव और अदेव को देव बना सकते हैं। ब्राह्मण जिन की प्रशंसा करते हैं उनकी उन्नति होती है और जिन की वे निन्दा करते हैं वे शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं । शक, यवन, काम्बोज, द्रविड़, कलिंग, पुलिन्द, उशीनर, कोलिसर्प, और माहिषक आदि कितनी ही क्षत्रिय जातियां ब्राह्मणों की कृपा न होने से शूद्रता को प्राप्त हो गई हैं ।[2]

जन्म आश्रित वर्ण-व्यवस्था श्रमण-संस्कृति के विरुद्ध

महावीर काल में वर्ण-व्यवस्था की इस विकृत दशा से यहां का अधिकांश जनसमाज अत्यन्त पीड़ित था । वह न केवल ऐहिक और सामाजिक क्षेत्र से ही बहिष्कृत था, बल्कि धार्मिक अधिकारों से भी वंचित था । भारतीय लोगों की इस बुद्धि विपरीतता, धर्म-विडम्बना और अन्याय को देखकर ही वीर और बुद्ध ने इस प्रकार की व्यवस्था का घोर विरोध किया और तदनन्तर होने वाले सभी जैन और बौद्ध आचार्य इस जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था का विरोध करते चले आये हैं ।

उन्होंने उपदेश दिया कि सभी मनुष्य एक समान गर्भ में रहते हैं, बढ़ते हैं और प्रसव होते हैं । जैसे वृक्ष, पशु-पक्षियों में विभिन्न जातीयता के लिंग मिलते हैं, वैसे विभिन्नता वाले लिंग मनुष्यों में नहीं मिलते । दो भिन्न वर्णों के समागम से मनुष्य ही उत्पन्न होता है । अतः मनुष्यों में जन्म की अपेक्षा विभिन्न जातीयता की कल्पना नहीं की जा सकती । जन्म से

१. मनुस्मृति ८.३८०

२. महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ३३-३६

ब्राह्मण, क्षत्रिय, शिल्पी, चोर आदि नहीं होते, वे गुण से ही ऐसे होते हैं।[1] मनुष्यों में श्रेष्ठता और नीचता भी अपने आचार विचार पर ही निर्भर है।

जो जन सदाचारी, विद्वान्, गुणवान, कर्त्तव्यशील है वह वर्ण अपेक्षा रहित आदरणीय है। और जो पुरुष अपराधी, अत्याचारी और क्रूरकर्मा हैं वह वर्ण-अपेक्षारहित लोकनिन्दनीय और राजदण्डनीय है। वर्ण-अपेक्षा-रहित सभी जन पाप कर्मों से नरक में और शुभ कर्मों से स्वर्ग में जाते हैं। सभी वर्णों में पापी और पुण्यवान् मनुष्य पाये जाते हैं।

जो जन कुल, जाति, वर्ण, गोत्र आदि बाह्य उपाधियों की लोक-व्यवहृत संज्ञाओं के अभिमान से बंधे हैं वे धर्मतत्त्व से बहुत दूर हैं। वे सम्यक्त्व के लिये अपात्र हैं। इन बन्धनों को छोड़ कर ही सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का साक्षात्कार किया जा सकता है।[2]

> मनुष्य जातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
> वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५॥
> ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
> वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥४६॥
>
> (जिनसेन—आदिपुराण, अध्याय ३८)
>
> वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
> ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधान प्रवर्तनात् ॥
> नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
> आकृतिग्रहणात् तस्मादन्यथा परिकल्प्यते ॥
>
> (गुणभद्र—उत्तरपुराण)
>
> कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
> कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥
>
> उत्तराध्ययन सूत्र २५-३३

---

१. मज्झिमनिकाय—९८—वासेट्ठ सुत्तन्त
२. (अ) दीर्घनिकाय—३—अम्बट्ठ सुत्त
(आ) समन्त भद्राचार्य, रत्नकाण्ड श्रावकाचार, कारिका २५-२६

अर्थात् जाति नाम कर्म के उदय से सभी मनुष्यों की एक ही जाति है। कर्म, गुण, स्वभाव अथवा आजीविका वृत्ति के भेद से ही उनमें चतुर्वर्ण की कल्पना की जाती है। जिन का जीवन व्रतों से सुशोभित है वे ब्राह्मण हैं,[1] जो जनता की रक्षार्थ शस्त्र धारण करते है वे क्षत्रिय हैं, जो न्याय-पूर्वक कृषि व वाणिज्य से अर्थ उपार्जन करने वाले हैं, वे वैश्य हैं और जो दूसरों की सेवा करके जीवन-निर्वाह करते हैं वे शूद्र हैं।

इसी प्रकार के उद्गारों से श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ तथा श्री कुन्द-कुन्द, समन्तभद्र, जिनसेन, सोमदेव, सोमसेन, अमितगति आदि प्रमुख दिगम्बर-आचार्यों की कृतियां भरपूर हैं। विस्तार भय से उन्हें उल्लिखित नहीं किया जाता। बौद्ध-साहित्य में इस विषय सम्बन्धी दीर्घनिकाय का तीसरा, २७वां, १९३वां सुत्त, खुड्डकनिकाय के सुत्तनिपात, कावसेत्थ सुत्त, मज्झिमनिकाय के ८४वां, ९०वां, ९३वां, ९८वां सुत्त, तथा धम्मपद वर्ग २६ विशेष दर्शनीय हैं।

न केवल महावीर और बुद्ध ने ही इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया; बल्कि वे समस्त व्रात्य क्षत्रिय जिनमें उपरोक्त-महापुरुषों ने जन्म लिया था, वैदिक काल से ही इस व्यवस्था का तिरस्कार करते चले आ रहे थे। यह व्रात्य अर्हतों और चैत्यों के उपासक थे। वह याज्ञिक क्रिया-काण्ड, संस्कार विधान और वर्ण व्यवस्था के जन्माश्रित प्रकृत रूप में श्रद्धा न रखते थे। जिन शूद्र, म्लेच्छ व पतितों का ब्राह्मण वर्ग धर्म क्षेत्र से बहिष्कार करते थे, उनको व्रात्य लोग अपना कर शिक्षा-दीक्षा से विभूषित करते थे। इस सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण ही याज्ञिक पुरोहितों ने स्थल २ पर व्रात्य लोगों का असुर, क्षत्रबन्धु, शूद्र आदि तुच्छता द्योतक शब्दों से उल्लेख किया है! उत्तराध्ययन सूत्र-अध्ययन १२ से प्रकट है कि गौतम गणधर कालीन पार्श्वनाथ सन्तानीय हरिकेश श्रमण चण्डाल जाति का था। महावीर उत्तरकाल में भी जिन-शासन का प्रवाह—जैसा कि जैन साहित्य से विदित है—सदा उदार गति से बहता रहा। मौर्य सम्राट चन्द्र-

---

१. (अ) उत्तराध्ययन सूत्र, २५वां अध्याय

(आ) धम्मपद, २६वां वर्ग।

गुप्तकालीन स्थूलभद्र श्रमण संघाचार्य ने कोषा नाम की गणिका को—जो संसार से विरक्त हो गई थी—जिन दीक्षा दे आर्यिका-संघ में प्रविष्ट किया था,[३२] इस काल में जैसा कि ग्रीक दूत मेगास्थनीज के वृत्तान्त से विदित है—श्रमण संघ में सभी प्रकार के मनुष्य बिना किसी जातपात भेदभाव के समान रूप से दीक्षा पाते थे।[३३] पुरातत्त्व खोजों से पता चला है कि ईसा से एक शताब्दी पूर्व मथुरा नगर में वर्धमान और वसु नाम की गणिकाओं ने—जो मुनि उपदेश से प्रभावित हो गई थीं—एक विशाल जिन भवन बनवाया था।[३४]

इसी काल के लगभग होने वाले कार्तिकेय नाम के जैन आचार्य एक बहुत ही घृणित व्यभिचार की उपज थे। इस प्रकार सैकड़ों उदाहरण जैन साहित्य में विद्यमान हैं, जिनका असंदिग्ध रूप से एक यह ही निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद ब्राह्मणिक प्रभाव के कारण लौकिक व्यवहार में चाहे कितने ही प्रचलित हों और उन्होंने रोटी बेटी के व्यवहार-क्षेत्र को कितना ही परिमित बना दिया हो, परन्तु वे कभी भी जिन-शासन की शिक्षा-दीक्षा में बाधक नहीं हुए। जिन-शासन ही की क्या विशेषता है, संसार में जितने भी धर्म प्रवर्तक संत हुए हैं। सब ही ने पारमार्थिक जीवन का क्षेत्र सब ही प्रकार के मनुष्यों के लिए खुला रक्खा है। बुद्ध, कन्फिसियस, ईसा और मुहम्मद आदि के द्वारा प्रचलित सब ही धर्म पन्थों का इतिहास इसी तत्त्व का द्योतक है। जिन–शासन ने जहां लौकिक जीवन में काल, देश की स्थिति अनुसार अपनी व्यवस्थाओं, संस्थाओं और प्रथाओं में यथावश्यक परिवर्तन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी है, वहां स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा है कि वही व्यवस्था, संस्था और प्रथा श्रेयस्कर है, जो प्राणिमात्र को उनकी सम्यक्त्व प्राप्ति और मोक्ष पुरुषार्थ में बाधक न हो।

---

३२. हेमचन्द्राचार्य—परिशिष्ट पर्व ८-११०-१९३।

33. Ancient India by J.W. McCruidle M. A. 1877, पृष्ठ २१३

34. Catalogue of Archeological Monuments of Mathura by Vogel, Part D, page 183.

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं, लौकिको विधिः ।[1]
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रत दूषणम् ॥

जो व्यवस्था व प्रथा प्राणिमात्र के आत्मविकास के लिये पूर्ण सुविधाएं प्रदान न करे, वह स्वार्थ और संकीर्णता की उत्पत्ति है । उनसे समाज को जितना जल्दी मुक्त किया जाए उतना ही समष्टिगत और व्यक्तिगत जीवन के लिए लाभप्रद है ।

आधुनिक जैन समाज और उसका कर्त्तव्य

जैन समाज की आधुनिक सामूहिक व्यवस्था को, उसके मन्दिर, तीर्थ, शास्त्र-भण्डार आदि धार्मिक संस्थाओं को इसकी देव, गुरु, शास्त्र की वन्दना, पूजा, अध्ययन आदि प्रथाओं को, इसकी धार्मिक शिक्षा-दीक्षा प्रणाली को, यदि उपरोक्त कसौटी से परीक्षण किया जाए—यदि इसके आधुनिक जीवन की वीर भगवान के जीवन तथा वीर शासन के सिद्धान्तों से तुलना की जाय—तो प्रतीत होगा कि समस्त जैन समाज और इसकी समस्त व्यवस्था, संस्था और प्रथाएं रोगग्रस्त हैं, दूषित हैं, विकारपूर्ण हैं, और उनमें अत्यन्त सुधार की आवश्यकता है आज की जैन समाज ने मिथ्या विश्वासों, अहित-कर रुढ़ियों, जटिल क्रियाकाण्डों और जातीय संकीर्णता से आक्रान्त हो जिस रूप को धारण किया है उसे देखकर भ्रान्ति होती है कि यह समाज उदार हृदय व्रात्य लोगों की प्रतिनिधि है, या व्रात्य विरोधियों की श्रेणी है ? यह वीर शासन की उपासक है, या लोकप्रतिष्ठा की पूजक है ! ! यह वीर का धर्म संघ है, या धर्म के व्यापारी लोगों का समूह है ! ! !

इसका कलेवर राजयक्ष्मा ग्रस्त रोगी के समान नित्यप्रति हीन क्षीण और निर्जीव होता चला जा रहा है । यह विशाल जन समाज में रहती हुई भी बहिष्कृत—सम अलग जीवन व्यतीत कर रही है । इसमें आज के युग की सांस्कृतिक हलचल के साथ कोई प्रतिक्रिया पैदा नहीं होती ! जैन समाज के अन्तर्गत दिगम्बर सम्प्रदाय वालों की संकीर्णता तो याज्ञिक पुरो-हितों से भी आगे बढ़ गई है । इस सम्प्रदाय का न केवल श्रावक वर्ग ही,

---

१. आचार्य सोमदेव रचित यशस्तिलक चम्पू ।

बल्कि त्यागी वर्ग भी संकीर्णता की दौड़ में एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ लगा रहा है ! क्या ठिकाना है उनकी शुद्धि के अभिमान का और संस्थाओं के विमोह का ? इनको अपने अतिरिक्त सकल जन समाज में से अशुद्धि की दुर्गन्ध आती है ! ! अन्य आचार विचार वाले लोगों के सम्पर्क से हानि की आशंका होती है, इसीलिए अपनी संस्कृति की रक्षा का यह सहज उपाय निकाल लिया है कि बहिष्कृतसम पृथक् जीवन व्यतीत किया जाए । इसी संकीर्ण वृत्ति का आज यह दुष्परिणाम है कि जहां एक ओर भट्टारक लोग प्राचीन शास्त्र भण्डारों को अन्धेरे में रख कीड़ों का भोजन बनवा रहे हैं, वहां दूसरी तरफ साधु-वर्ग अन्य भारतीय वर्गों के साथ सम्बन्ध विच्छेद करा जैन समाज को अपने ही घर में घेर कर बन्दी बनाने में लगे हैं । और तीसरी तरफ श्रावक वर्ग वीर प्रभु को ही देवालयों में बन्द कर उन्हें बन्दी बनाने में जुटे हैं । इसे देख ऐसा भान होता है कि अब वीरशासन नहीं, बल्कि जैन समाज शासन है । सजीव वीर ने अपने शासन काल में बिना रोकटोक प्राणी मात्र को अपने सम्पर्क में आने की छुट्टी दी हुई थी, परन्तु अब मूर्तिमान वीर केवल उन्हीं से अपनी पूजा करा सकते हैं, जिनको जैन समाज इजाजत दे । कैसी घोर विडम्बना है !

कहां तो मन्दिरों में बैठ कर धर्म तत्त्व और उसके अष्टांगिक सम्यक्त्व की उदार सर्वव्यापक चर्चा, और कहां समाज का वास्तविक जीवन ? इसे देख प्रत्येक हृदय में यही प्रश्न पैदा होते हैं ।

कहां है वह धर्म, जो नीचों को नीचता से ऊपर उठने के लिये अवलंबन देता था ? कहां है वह ११ प्रतिमाओं वाला श्रावक जीवन का सोपान, जिस पर आरूढ़ हो सब ही भव्य जीव मोक्ष पुरुषार्थ की योजना करते थे ?

कहां है वह धर्म प्रवाह, जो प्राणिमात्र के दुःख हरण कर उनमें सुख-शांति का संचार करता था ?

कहां है वह निर्ग्रन्थ साधु संघ, जो अनेक उपसर्ग सह कर भी सर्वतोभद्र मूर्ति के समान विचरते हुए प्राणिमात्र को अणुव्रतों और महाव्रतों की दीक्षा देते थे ?

कहां है वह धर्म-परिषद्, कहां है वह समवशरण-अनुरूप देवालय, जहां

सब ही उच्च, नीच, नर तिर्यंच भ्रातृसम धर्म की शरण पाते थे ?

कहां है वह निर्जुगुप्सा गुण, जिसके अनुभव से किसी जीव से भी उसकी दरिद्रता, क्षुद्रता और नीचता के कारण ग्लानि न करके उसके उद्धारार्थ हाथ बढ़ाया जाता था ?

कहां है वह स्थितिकरण गुण, जो सुपथ से विचलित कुमार्गरत मनुष्यों को सद्‌बोध देकर उन्हें पुनः धर्म मार्ग पर लगाता था ?

कहां है वह प्रभावना गुण, जो सभी श्रावक और यति वर्ग को अपन शुद्ध आचार और उदात्त विचार बल से संसार में अहिंसा धर्म फैलाने की प्रेरणा देता है ?

कहां है वह व्रात्य जीवन, जो अपवाद उपसर्ग सहकर भी मिथ्या विश्वासों और विकृत व्यवस्था का मूलोच्छेद करने में जुटा रहता था ? इत्यादि।

इस स्थल पर प्रश्न पैदा होता है कि अर्हत मत—अनुयायी समाज के इतने विपरीत परिवर्तन का क्या कारण है ? क्या वीर भगवान के आचार और उपदेश में कुछ अन्तर था ? क्या उनका उपदेश इतना अविशद था कि उसके कई अर्थ हो सकते थे ? कहना होगा कि उपरोक्त कारणों में कोई भी कारण नहीं है, तो फिर क्या हेतु है ? इसका उत्तर भारतीय सभ्यता के उत्थान-पतन के इतिहासों में छुपा है ।

ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में जब उत्तरीय भारत का राज शासन शुग वंश के ब्राह्मणिक राजाओं के हाथ आया, तो ब्राह्मणिक मन्तव्यों ने फिर जोर पकड़ा और जैन संघ को बहुत धक्का पहुंचा। वीर-जन्म भूमि को छोड़कर श्वेताम्बर संघ ने जहां सुराष्ट्र देश को अपनाया, दिगम्बर संघ ने राजगृह, उज्जैन, पाटलिपुत्र और मथुरा के केन्द्रीय स्थानों से निकल दक्षिण को अपना घर बनाया।

आठवीं शताब्दी में जब श्री शंकर आचार्य की अध्यक्षता में दक्षिण देश में भी ब्राह्मण धर्म को महती प्रगति मिली, तो बढ़ती हुई ब्राह्मणिक सभ्यता की दिग्विजय के आगे जैन संघ को अपने जीवन की रक्षार्थ ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था और संस्कारविधि के प्रति अपनी उपेक्षा और विरोध का त्याग करना पड़ा, और उन्हें नवीन रूप दे जैन शासन का अंग बनाना पड़ा, यह बात जिन-

सेन रचित आदि पुराण के ३९वें पर्व से भली भांति विदित है। ८वीं शताब्दी के बाद जब उत्तरीय भारत के देशों में विभिन्न राजपूत वंशों के राज्य शासन स्थित हुए, तो जैन आचार्यों ने पुनः उत्तरीय भारत में घूम कर द्विज जातियों में से जैन संघ की वृद्धि करना शुरू किया। आज उत्तरीय भारत में जो जैन अनुयायी लोग विद्यमान हैं वे अधिकतर ८वीं शताब्दी के बाद दीक्षित है और वैश्य जाति के हैं। चूकि वे लोग शताब्दियों से ब्राह्मणिक संस्कृति से अनुरंजित थे और जैन शासन भी स्वयं ब्राह्मणिक जातीय व्यवस्था से अनुरंजित हो चुका था, अतः जैन संघ मे जातीय संकीर्णता और ब्राह्मणिक प्रथाओं का आलोक होना स्वाभाविक ही है। आज जातीयता का मिथ्यात्व सन्तति रूप से आते २ इतना गाढा हो गया है कि वह हमारे धर्म का अंग ही बन गया है ! यह ही नहीं वह तो अब हमारे मान और प्रतिष्ठा का पोषक बन गया है। इस मिथ्यात्व पाश से मुक्त होने के लिए हमें पुनः जैन शासन के मूल सिद्धान्तों, शासन प्रवर्तक महावीर के जीवन, तथा व्रात्य जाति के इतिहास का अवलोकन करना होगा। इसी बात को दृष्टि में रख कर इस निबन्ध में उपरोक्त बातों पर कथंचित् प्रकाश डाला गया है।

स्थिति पालक दल पूछ सकता है कि जैन सघ को अपनी रक्षार्थ जिस वर्ण-व्यवस्था और संस्कार विधान को अपनाना पडा, वह आज इसके जीवन के लिए आवश्यक क्यों नहीं है ? इसके उत्तर में इतना कहना ही पर्याप्त होगा, कि जो भय जैन संघ को उस समय उपस्थित हुआ था, वह भय आज नहीं है। उस समय ब्राह्मणिक प्रभाव के सामने बौद्ध धर्म भारत से प्रायः लुप्त होता चला जा रहा था, और आशंका थी कि कहीं यही दुर्दशा जैन संघ की भी न हो, परन्तु, जब से भारत का राज्य शासन ब्रिटिश लोगों के हाथ आया, यहां की स्थिति, पाश्चात्य संस्कृति और ईसाई तथा मुसलिम धर्म-परिवर्तन की बढ़ती हुई गति ने पुराने जातीय बन्धनों को तोड़ना आवश्यक कर दिया है। इस आवश्यकता का ही यह परिणाम है कि कट्टर पन्थी हिन्दू समाज में ही थियोसोफिकल सोसाइटी, ब्रह्मो समाज, आर्य समाज, राधा स्वामी समाज, देवसमाज, हरिजन सेवक संघ, जातपात तोड़क मण्डल आदि अनेक समाज और संस्थाएं जातिवाद और क्रिया काण्ड

का मूलोच्छेद करने के लिए खड़ी हो गई है। और अब जब कि भारत को सदियों की गुलामी के बाद राष्ट्रपिता गांधी के सत्य और अहिसा बल से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता मिली है, इस स्वतन्त्रता को स्थायी और दृढ़ करने के लिए यह और भी आवश्यक हो गया है कि हम जातिवाद की पथक्करण-प्रवृत्तियों का उच्छेद कर सकल जनता का समानता के आधार पर पुन: एकीकरण करें।

यह नवीन चेतना आज भारत के कोने-कोने में काम कर रही है। यह चेतना ही आज भारतीय गणराज्य की प्राण है। इस चेतना से ही श्रमण-संस्कृति के लोक-कल्याणकारी मार्ग का पुन: प्रसार हो रहा है। इसी चेतना से आकृष्ट हो बौद्ध धर्म पुन: अपनी जन्मभूमि में प्रवेश कर रहा है। यह समय सोने का नहीं है। नव युग का प्रभात हो चुका है, अत: जैन संघ को भी अपना संकीर्ण रूप छोड़ पुरातन उदात्त रूप धारण कर लेना चाहिए। देव-मंदिर शास्त्र और यतिजन—जो धर्म प्रसार के महान साधन हैं—उनका सम्पर्क सभी के लिए सुलभ बना देना चाहिये। त्यागी वर्ग का उत्तरदायित्व तो और भी अधिक है, उन्हें तो पुरानी प्रथा अनुसार देशविदेशों में जगह-जगह घूम कर अपने त्याग और संयम बल से अपने उदात्त व्यवहार और सौम्य-पूर्ण दृष्टि से सभी विरोधों का परिहार कर, जन जन में सम्मेल बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मा की महत्ता, जीवन की पवित्रता और मानवता का सन्देश मनुष्य मात्र तक पहुंचाना चाहिये और समस्त लोक को अहिंसा मार्ग और सहयोगी जीवन का अनुयायी बनाना चाहिए।